

सार्वजनिक शिक्षा क्या है?

अनुराग बेहार



सार्वजनिक (पब्लिक) शिक्षा के बारे में सार्वजनिक क्या है? इससे पहले कि हम इस सवाल पर जाएँ, एक बात हम बहुत ही सुरक्षित तौर पर कह सकते हैं – भाषा-प्रयोग के नजरिए से इस पर अब काफी व्यापक और बढ़ती हुई सहमति है कि जिन्हें युनाइटेड किंगडम और भारत में कभी पब्लिक स्कूल कहा जाता था, वे निजी स्कूल हैं; वे अधिकतर तो आर्थिक तौर पर सम्पन्न लोगों के लिए हैं और किसी भी तरह से सार्वजनिक शिक्षा के घेरे में शामिल नहीं हैं।

राज्य द्वारा लगाए गए करों की आय से 'चलने' और 'प्रशासित' होने वाले स्कूल सार्वजनिक स्कूल कहलाए जाते हैं। यहाँ मैं 'स्कूल' का प्रयोग व्यापक अर्थ में कर रहा हूँ और इसमें पूर्व-प्राथमिक से लेकर महाविद्यालय तक सब शिक्षण-संस्थाएँ शामिल हैं। 'राज्य' में उसकी विभिन्न शाखाएँ शामिल हैं – वे भी, जिनकी प्रकृति बहुत हद तक स्वायत्त है लेकिन हैं आखिरकार वे राज्य-व्यवस्था का ही हिस्सा। एकत्र किए गए कोष में स्वयं स्कूल द्वारा शुल्क आदि से एकत्र साधन-संसाधन भी हो सकते हैं लेकिन अधिकतर तो यह राज्य द्वारा करों की वसूली से प्राप्त आय के माध्यम से ही पूरा होता है। सार्वजनिक स्कूलों की ऐसी व्यवस्था से ही सार्वजनिक शिक्षा बनती है।

यह 'सार्वजनिक शिक्षा' के प्रयोग के सन्दर्भ में आमतौर पर साझा समझ है। यह साझा समझ ठोस आधार लिए हुए है और अधिकतर परिस्थितियों के लिए पर्याप्त भी है। लेकिन जिन हालात का हम आज सामना कर रहे हैं, उनमें यह देखने के लिए कि यह विचार पर्याप्त है या नहीं, हमें कुछ अधिक ध्यान देना होगा। शिक्षा से हमारी आशाएँ लगातार बढ़ रही हैं लेकिन शिक्षा की हालत को लेकर बहुत व्यापक स्तर पर हमारी असन्तुष्टि है। राज्य पर आर्थिक दबाव के चलते सेवाएँ मुहैया करवाने के बाजार-आधारित निजी स्रोतों से सरल समाधान निकाले जाते हैं और बहुत बार ऐसे कदमों के अल्प एवं दीर्घकालिक नुकसानदायक प्रभाव की ओर से आँखें मूँद ली जाती हैं। बारीकी में जाएँ तो परिस्थितियों में अन्तर

हो सकते हैं मगर बुनियादी तौर पर तो ये कई देशों में एक-सी हैं और भारत तक ही सीमित नहीं हैं।

'सार्वजनिक शिक्षा' के इस विशेष विचार की सीमा का अन्दाजा हमें इस बात से हो जाता है कि हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति इसी वाक्यांश को इस्तेमाल करने की होती है न कि 'राजकीय शिक्षा' (या 'राजकीय स्कूल') को। यदि सार्वजनिक शिक्षा का उपरोक्त विचार पर्याप्त और पूर्ण होता तो हम अर्थ या इरादे को खोए बिना 'राजकीय शिक्षा' का प्रयोग कर सकते थे। लगता है कि यह स्वाभाविक प्रवृत्ति इस जायज विचार से उत्पन्न होती है कि राज्य इस प्रकार की शिक्षा को सम्भव बना सकने वाली व्यवस्थागत प्रणाली या कार्यविधान है – लेकिन स्वयं में यह शिक्षा सार्वजनिक नहीं है।

हम वापिस उसी बात पर आते हैं – 'सार्वजनिक शिक्षा' में यह 'सार्वजनिक' क्या है? लगता है कि सबसे बुनियादी विचार यह है कि सार्वजनिक वह होता है जो सबके लिए समान तौर पर उपलब्ध हो – इसीलिए यह सार्वजनिक है। एक और इतना ही महत्वपूर्ण विचार इस में जड़बद्ध है – कि लोग किसी एक बात के लिए साथ आते हैं। इस मामले में, क्योंकि यह शिक्षा के सन्दर्भ में है, तो यह शिक्षा के माध्यम से लोगों के हित को बढ़ावा देने के बारे में है। इस तरह शब्द 'सार्वजनिक' के दो बुनियादी पहलू हैं – किसके लिए (सबके लिए समान रूप से) और किसलिए/क्यों (सार्वजनिक हित के लिए)।

इस दृष्टि से देखा जाए – यानी सबके लिए उपलब्ध होना और शिक्षा के माध्यम से लोगों के हित को बढ़ावा देने का उद्देश्य होना – तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस तरह की शिक्षा को संचालित करने के लिए अधिकतर हालात में राज्य अच्छी स्थिति में हो सकता है। फिर भी, राजकीय शिक्षा एक प्रणाली या कार्यविधान है और जरूरी नहीं कि राजकीय तथा सार्वजनिक शिक्षा, दोनों की बात एक ही हो। यह बात और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक धुर सीमांत परिस्थिति का उदाहरण लेते हैं।

किसी भी निरंकुश राज्य की कल्पना करें। उसकी स्कूली व्यवस्था अपने विद्यार्थियों के दिमाग में राज्य के पक्ष में मतारोपण करती है और उसकी गिरफ्त को मजबूती देती है। यह राजकीय शिक्षा है लेकिन सार्वजनिक शिक्षा नहीं है। इस तरह का राज्य दावा तो कर सकता है कि यह सार्वजनिक शिक्षा है, लेकिन वह अच्छे समाज के बारे में उसके विचारों पर आधारित होगी, जिनमें स्वतंत्रता, स्वायत्तता, समानता के विचार तो निश्चित तौर पर शामिल नहीं होंगे।

सार्वजनिक हित के बढ़ावे के लिए शिक्षा के उपयुक्त उद्देश्य होने होंगे। ये उद्देश्य सार्वजनिक शिक्षा के विचार के केन्द्र में हैं। ये विभिन्न शैक्षिक प्रक्रियाओं और व्यवस्थाओं तथा केन्द्रीय रूप से पाठ्यचर्या के माध्यम से हासिल किए जाते हैं और प्रत्यक्ष होते हैं। फिलहाल हम सार्वजनिक हित को बढ़ावा देने वाले इन उद्देश्यों का हल्का-सा जिज्ञा करते हैं। एक ओर तो ये ऐसे व्यक्तियों के विकास के बारे में हैं जो स्वायत्त और विचारशील हैं, संसार के बारे में जानकार हैं और अर्थपूर्ण जीवन जीने की क्षमताएँ रखते हैं। दूसरी ओर उद्देश्यों में एक न्यायसंगत, करुणापूर्ण, मानवीय और दीर्घकालिक समाज का विकास भी शामिल है। उद्देश्यों के ये दो धागे मिलकर सार्वजनिक हित को बढ़ावा देते हैं। इस सन्दर्भ में ऐसी शिक्षा सबके लिए समान रूप से उपलब्ध होने की जरूरत और भी स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि वह सबके लिए समान रूप से उपलब्ध होने से ही अपने उद्देश्य भी हासिल कर पाएगी।

हम सार्वजनिक शिक्षा को इस परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो यह स्पष्ट होने लगता है कि यह किसी भी समाज के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। एक लोकतांत्रिक समाज में, जहाँ शिक्षा लोगों और समाज को विकसित करने के लिए सबसे (और शायद अकेली) व्यवस्थित प्रक्रिया होती है, सार्वजनिक शिक्षा समाज और लोकतंत्र के लिए बुनियादी बात हो जाती है।

क्योंकि हमने शिक्षा के उपयुक्त उद्देश्यों के महत्व और पाठ्यचर्या पर उसके प्रभाव को देखा है, तो आँ, इसी की रोशनी में हम उद्देश्यों और पाठ्यचर्या के माध्यम से सार्वजनिक शिक्षा पर एक प्रकार के आक्रमण (या उसके क्षय) को भी देखें। यदि पाठ्यचर्या के उद्देश्य या उसकी विषयवस्तु किन्हीं समूहों की सनक भरी आवश्यकताओं के लिए या किसी विशेष विचारधारा

की मर्जी के मुताबिक बदल जाएँ तो सार्वजनिक शिक्षा सार्वजनिक नहीं रह जाएगी और समाज तथा लोकतंत्र में उसकी केन्द्रीय भूमिका कमजोर होगी। बदलाव के इस प्रकार के प्रयास शायद साफ दिखाई देंगे और उनका विरोध भी होगा।

लेकिन आज लोगों के एक बड़े तबके द्वारा एक और खास तरह का बदलाव प्रतिपादित किया जा रहा है जिसका विरोध पर्याप्त तौर पर नहीं हो पा रहा। यह शिक्षा के उद्देश्यों से सम्बद्ध कथनों से शुरू होता है जो पाठ्यचर्या सम्बन्धी मुद्दों में परिवर्तित हो जाते हैं। यह बदलाव 'शिक्षा को हमारी अर्थव्यवस्था को अधिक गतिशील बनाना होगा', 'शिक्षा को रोजगारपरक होना होगा' आदि के बारे में है। ये कथन स्वयं में समस्याग्रस्त नहीं हैं। असल मुद्दा तो बाकी सब बातों से भी ऊपर आर्थिक उद्देश्यों को प्राथमिकता देने के कथित इरादे को बहुधा खुले तौर पर (और निहित रूप में तो लगभग हमेशा ही) अभिव्यक्त किए जाने का है।

आर्थिक उद्देश्य सार्वजनिक शिक्षा का अभिन्न अंग हैं। उदाहरण के लिए, लोगों को एक सार्थक जीवन जीने में मदद करना शिक्षा का एक उद्देश्य है। इसलिए आर्थिक कल्याण और कुशलक्षेम को पर्याप्त तौर पर तोलना होगा। लेकिन यदि आर्थिक उद्देश्यों पर ही लगातार बल दिया जाता है और इस तरह अन्य उद्देश्यों को कमजोर कर दिया जाता है, उद्देश्यों और पाठ्यचर्या को संकीर्ण कर दिया जाता है, तो यह सार्वजनिक शिक्षा को कमजोर करने के समान होगा। इससे शिक्षा मार्केट (और उसके प्रभावशाली समूहों) की सेवा में रहती है न कि सार्वजनिक कल्याण के लिए। यह हमला उतना ही अनैतिक और कुटिल है जितना कि अन्य प्रकार के हमले जो शायद इससे अधिक साफ तौर पर स्पष्ट हों।

अब हम उस मुद्दे पर आते हैं जो अधिक चर्चा में आता है – सार्वजनिक और निजी शिक्षा का मुद्दा और यह विषय, कि क्या निजी स्कूल सार्वजनिक शिक्षा का काम कर सकते हैं?

सैद्धान्तिक तौर पर देखें तो दो बुनियादी शर्तें पूरी कर ली जाएँ तो लोगों के लिए काम करने की भावना से प्रेरित निजी स्कूल द्वारा सार्वजनिक शिक्षा प्रदान की जा सकती है (या वह उस का हिस्सा हो सकता है)। एक, वह सार्वजनिक हित के लिए तैयार पाठ्यचर्या को स्वीकारे और लागू करे। दो, वह सबको समान तौर पर

उपलब्ध रहे, फिर चाहे कोई किसी भी सामाजिक-आर्थिक स्थिति का क्यों न हो।

निजी स्कूल दूसरी शर्त को पूरा नहीं कर सकते क्योंकि यदि वे अपने खर्चे विद्यार्थियों के माध्यम से निकालने का इरादा रखते हैं तो आर्थिक रूप से वंचित बच्चे इसमें से निकल जाएँगे। इसी के चलते सार्वजनिक वित्तीय सहायता प्राप्त निजी स्कूलों का विचार सामने आया है जो फिर तथाकथित रूप से सार्वजनिक शिक्षा देने की बात को पूरा कर सकते हैं।

इसमें कोई शक नहीं है कि जब हम अपने सम्पूर्ण देश को (और बाहर) देखते हैं तो हमें सार्वजनिक भावना से प्रेरित कई निजी स्कूल मिल सकते हैं। इनमें से कुछ को राज्य की ओर से और कुछ को लोकोपकारी वित्तीय सहायता मिली हो सकती है। वे कोशिश करते हैं कि दोनों शर्तें पूरी कर सकें। ऐसा हो जाता है तो वे सार्वजनिक शिक्षा का हिस्सा माने जाने योग्य होंगे। लेकिन इस तरह के स्कूल अल्पसंख्या में हैं।

अधिकतर निजी स्कूल लोगों के लिए नहीं, अपने लाभ को ध्यान में रखकर चलाए जाते हैं। वे अपनी पाठ्यचर्या को सीधे तौर पर मार्केट की गतिशीलता की सेवा में संकीर्ण रखते हैं, सार्वजनिक कल्याण को ध्यान में नहीं रखते। साथ ही वे अच्छी शिक्षा तथा औपचारिक तौर पर आवश्यक पाठ्यचर्या का भी दिखावटी अनुमोदन करते हैं। वे सबको समान प्रवेश उपलब्ध नहीं करवाते। इस सन्दर्भ में आर्थिक रुकावटों के अलावा महत्वपूर्ण सामाजिक बाधाएँ भी रहती हैं (अकसर 'अकादमिक मापदण्डों' के रूप में)। वे इस विशिष्टता को अपनी प्रतिष्ठा के एक महत्वपूर्ण हिस्से के तौर पर देखते हैं – इसी से उनकी 'व्यापारिक' सफलता का पोषण होता है। इस प्रकार के कई स्कूलों की दिलचस्पी सार्वजनिक शिक्षा की तो बात अलग, शिक्षा में ही बहुत कम या बिल्कुल नहीं होती।

जानते-बूझते हुए भी अपने कान-आँख बन्द रखने वाला ही कोई व्यक्ति भारत में निजी स्कूलों की इस असलियत को नकार सकता है। 'सीखने के स्तरों' के मामले में भी यह स्पष्ट है कि निजी स्कूलों का प्रदर्शन सरकारी

स्कूलों से बेहतर नहीं होता।¹ यह स्थिति भारत के लिए अनोखी नहीं है बल्कि सभी देशों में ऐसा ही है। निजी स्कूलों की पहले से अधिक संख्या (जिनमें राजकीय वित्तीय सहायता-प्राप्त स्कूल शामिल हैं) से भी शैक्षिक व्यवस्था के स्तर पर सीखने-सिखाने में कोई बेहतरी नहीं हुई है बल्कि ये अधिक असमानता और स्तरीकरण की ओर ही लेकर गए हैं।^{1,2}

यह बिल्कुल भी हैरत की बात नहीं होनी चाहिए। अगर आप बाजार के मूलतत्त्ववाद की विचारधारा द्वारा पथभ्रष्ट हुए बिना बुनियादी बात के साथ बने रहते हैं तो इस का तो पहले से अन्दाजा लगाया जा सकता है।^{2,3,4} कुछ अपवादों को छोड़ दें, तो मूलभूत, बुनियादी बात यह है कि निजी संस्थाओं द्वारा स्कूल निजी उद्देश्यों के लिए स्थापित किए और चलाए जाते हैं – मसलन, लाभ, प्रतिष्ठा, राजनैतिक प्रभाव के लिए। हाँ, कम ही स्कूल इस बात को मानेंगे; वे हमेशा सार्वजनिक भले के प्रति कटिबद्धता का पर्दा ओढ़कर रखते हैं। लेकिन यह फिर बस एक आवरण ही है। जो संस्थाएँ सार्वजनिक भले के लिए न तो स्थापित की जाती हैं, न चलाई जाती हैं, चमत्कारिक तरीके से, अपने मूल इरादे के विरुद्ध जाकर सार्वजनिक भलाई उत्पन्न नहीं कर सकतीं। निजी स्कूल सार्वजनिक-शिक्षा नहीं दे सकते।

इसलिए सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था राजकीय स्कूलों के आधार पर ही हो सकती है। आवश्यक नहीं है कि राजकीय स्कूली व्यवस्था सार्वजनिक शिक्षा ही हो लेकिन एक सुदृढ़ राजकीय स्कूली व्यवस्था के बिना सार्वजनिक शिक्षा सम्भव नहीं है। और सार्वजनिक शिक्षा एक बेहतर समाज विकसित करने के लिए हमारे प्रयासों के केन्द्र में है – वह लोकतंत्र के लिए भी बुनियादी बात है।

भारत में हमें राजकीय स्कूली व्यवस्था को पुष्ट करने, उसे बेहतर बनाने की आवश्यकता है। इसके लिए कोई छोटे रास्ते उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन जिस बेहतर समाज का वायदा हमने संविधान में स्वयं के लिए किया है, उसके विकास हेतु होने वाले प्रयासों के लिए भी कोई छोटे रास्ते उपलब्ध नहीं हैं।

टिप्पणी : सभी नोट उन आलेख-स्तम्भों को इंगित करते हैं जो लेखक द्वारा समाचार-पत्र 'मिन्ट' के लिए लिखे गए हैं और उसकी वेबसाइट 'लाइवमिन्ट' पर उपलब्ध हैं (<http://www.livemint.com/>).

1. 'Cost of Privatized Education', April 17, 2013.
2. 'Ideology of Education', October 30, 2013.
3. 'Myths of Privatopia', December 25, 2013.
4. 'Market no fix for Education', October 28, 2015.

अनुराग बेहार अजीम प्रेमजी फाउण्डेशन के सी.ई.ओ. तथा अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के उपकुलपति हैं। वे अजीम प्रेमजी फिलेंथोरोपी इनेशियेटिव तथा विप्रो के कॉर्पोरेट सोशल रिस्पॉसिबिल्टी के कार्यों से बहुत नजदीकी से सम्बद्ध हैं। अनुराग पिछले 13 साल से भारत में शिक्षा में बेहतरी के प्रयासों में शामिल रहे हैं। वे सार्वजनिक व्यवस्थाओं, विशेष तौर से सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के निर्णायक महत्त्व की जोर-शोर से वकालत करते रहे हैं। इससे पहले व्यापार की दुनिया से सम्बद्ध होने और उसे अन्दर से देख पाने की वजह से वे बाजार की सम्भावनाओं और सीमाओं, दोनों से भली-भाँति परिचित हैं। पिछले कुछ सालों से वे पर्यावरण तथा उसके पारिस्थितिक वातावरण से सम्बद्ध मुद्दों से भी जुड़े रहे हैं। वे समाचार-पत्र 'मिन्ट' के लिए शिक्षा और पारिस्थितिक पर्यावरण के विषयों पर एक पाक्षिक स्तम्भ लिखते हैं। यह www.livemint.com पर उपलब्ध है। उन्होंने एक्स.एल.आर.आई. जमशेदपुर से एम.बी.ए. तथा राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान, त्रिचि से इलेक्ट्रिकल एवं इलेक्ट्रॉनिक्स इंजिनियरिंग में बी.ई. किया है। उन्हें लम्बी दूरी की दौड़ लगाना अच्छा लगता है। उनसे anurag.bihar@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : रमणीक मोहन